चुनौती / कविता

विष्णु खरे

इस क़स्बानुमा शहर की इस सड़क पर
सुबह घूमने जाने वाले मध्यवर्गीय सवर्ण पुरुषों में
हरिओम पुकारने की प्रथा है

यदि यह लगभग स्वागत
और भगवान का नाम लेने की एकान्त विनम्रता से ही कहा जाता
तब भी एक बात थी
क्योंकि तब ऐसे घूमने वाले
जो सुबह हरिओम नहीं कहना चाहते
शान्ति से अपने रास्ते पर जा रहे होते

लेकिन ये हरिओम पुकारने वाले
उसे ऐसी आवाज़ में कहते हैं
जैसे कहीं कोई हादसा वारदात या हमला हो गया हो
उसमें एक भय एक हौल पैदा करने वाली चुनौती रहती है
दूसरों को देख वे उसे अतिरिक्त ज़ोर से उच्चारते हैं
उन्हें इस तरह जांचते हैं कि उसका उसी तरह उत्तर नहीं दोगे
तो विरोधी अश्रद्धालु नास्तिक और राष्ट्रद्रोही तक समझे जाओगे
इस तरह बाध्य किये जाने पर
अक्सर लोग अस्फुट स्वर में या उन्हीं की तरह ज़ोर से
हरिओम कह देते हैं
शायद मज़ाक़ में भी ऐसा कह देते हों

हरिओम कहलवाने वाले उसे एक ऐसे स्वर में कहते हैं
जो पहचाना-सा लगता है

एक सुबह उठकर
कोठी जाने वाले इस जिला मुख्यालय मार्ग पर
मैं प्रयोग करना चाहता हूं
कि हरिओम के प्रत्युत्तर में सुपरिचित जैहिन्द कहूं
या महात्मा गांधी की जय या नेहरू जिन्दाबाद
या जय भीम अथवा लेनिन अमर रहें
- कोई इनमें से जानता भी होगा भीम या लेनिन को? -
या अपने इस उकसावे को उसके चरम पर ले जाकर
अस्सलाम अलैकुम या अल्लाहु अकबर बोल दूं
तो क्या सहास मतभेद से लेकर
दंगे तक की कोई स्थिति पैदा हो जाएगी इतनी सुबह
कि इतने में किसी सुदूर मस्जिद का लाउडस्पीकर कुछ खरखराता है
और शुरू होती है फ़ज्र की अज़ान
और मैं कुछ चौंक कर पहचानता हूं
कि यह जो मध्यवर्गीय सवर्ण हरिओम बोला जाता है
वह नमाज़ के वज़न पर है बरक्स

शायद यह सिद्ध करने का अभ्यास हो रहा है
कि मुसलमानों से कहीं पहले उठता है हिन्दू ब्राह्म मुहूर्त के आसपास
फिर वह जो हरिओम पुकारता है उसी के स्वर अज़ान में छिपे हुए हैं
जैसे मस्जिद के नीचे मन्दिर
जैसे काबे के नीचे शिवलिंग

गूंजती है अज़ान
दो-तीन और मस्जिदों के अदृश्य लाउडस्पीकर
उसे एक लहराती हुई प्रतिध्वनि बना देते हैं
मुल्क में कहां-कहां पढ़ी जा रही होगी नमाज़ इस वक़्त
कितने लाख कितने करोड़ जानू झुके होंगे सिजदे में
कितने हाथ मांग रहे होंगे दुआ कितने मूक दिलों में उठ रही होगी सदा
अल्लाह के अकबर होने की लेकिन
क्या हर गांव-क़स्बे-शहर में उसके मुक़ाबिले इतने कम उत्साहियों द्वारा
हरिओम जैसा कुछ गुंजाया जाता होगा

सन्नाटा छा जाता है कुछ देर के लिए कोठी रोड पर अज़ान के बाद
होशियार जानवर हैं कुत्ते वे उस पर नहीं भौंकते
फिर जो हरिओम के नारे लगते हैं छिटपुट
उनमें और ज़्यादा कोशिश रहती है मुअज़्ज़िनों जैसी
लेकिन उसमें एक होड़ एक खीझ एक हताशा-सी लगती है
जो एक ज़बरदस्ती की जिद्दी अस्वाभाविक पावनतावादी चेष्टा को
एक समान सामूहिक जीवन्त आस्था से बांटती है
वैसे भी अब सूरज चढ़ आया है और उनके लौटने का वक़्त है

लेकिन अभी से ही उनमें जो रंज़ीदगी और थकान सुनता हूं
उस से डर पैदा होता है
कि कहीं वे हरिओम कहने को अनिवार्य न बनवा डालें इस सड़क पर
और फिर इस शहर में
और अन्त में इस मुल्क में

पीएमसी बैंक घोटाले को एक साल हो गया....

आरबीआई ने 24 सितंबर 2019 को पीएमसी बैंक से पैसे निकालने पर रोक लगा दी, रॉयटर्स की रिपोर्ट के अनुसार पीएमसी बैंक के नौ लाख के करीब जमाकर्ता अभी भी आरबीआई और सरकारी मदद का इंतज़ार कर रहे हैं।

जिसकी आप तस्वीर देख रहे है ये रौनक मोदी है इन्होने 2 सितंबर 2020 को आत्महत्या कर ली। रौनक गुजरात के उमाग्राम में अपनी बहन और मां-बाप से साथ रहते थे। वो एक कॉन्ट्रैक्ट मज़दूर थे रिज़र्व बैंक ऑफ़ इंडिया ने जब रोक लगाई थी, उसके सिर्फ तीन दिन पहले ही रौनक ने पीएमसी बैंक में अपने परिवार की सारी गाढ़ी कमाई डाले थे। 22 साल की मेघा मोदी बताती हैं, "मेरे भाई से सबसे बड़ी ग़लती यही हुई कि उन्होंने सारे पैसे बैंक ऑफ़ बड़ौदा से निकालकर पंजाब और महाराष्ट्र सहकारी बैंक में डाल दिए." मेघा के 24 साल के भाई रौनक मोदी 2 सितंबर को मृत पाए गए थे. परिवार वालों का कहना है कि बैंक में पैसे फंसे होने के कारण वो खुद को मजबूर महसूस कर रहे थे. परिवार और पुलिस का मानना कि उन्होंने आत्महत्या की। रौनक के 54 साल के पिता राजेंद्र कहते हैं, "हमने अपना सबकुछ खो दिया है. हमारे पैसे चले गए और बेटा भी। " "वो पढ़ा-लिखा था लेकिन इस महामारी में उसकी नौकरी चली गई थी। मेरी बेटी मेरा घर चला रही थी और ये बात उसे परेशान कर रही थी. वो कुछ छोटे-मोटे काम कर रहा था।"

रौनक की मां संगीता मोदी अभी तक सदमे में हैं. वो कहती हैं, "वो पीएमसी खाताधारकों के कई व्हाट्सएप ग्रुप में था. वो जानकारियों पर नज़र रखता था। हर दिन कहता था कि उसे उम्मीद है कि कुछ अच्छा होगा। उसे सिस्टम में बहुत भरोसा था।" "वो एक मज़बूत इंसान था. मुझे नहीं पता था कि पीएमसी केस उसे अंदर से खा रहा है।"

-बीबीसी से

श्रम

संसाधन बढ़ते गये, यूनियन डूबती गयी

सतीश कुमार

अपनी मेहनत का वाजिब दाम पाने के लिये जब संगठित मज़दूर संघर्ष करने लगता है तो उसे संसाधनों की जरूरत पड़ना लाजमी है। उसे इश्तिहार भी छापने पड़ते हैं, बैनर, पोस्टर रैलियों व आवागमन आदि, सब पर खर्चा होता है। धरने के लिये तम्बू व लाउड स्पीकर आदि का भी जुगाड़ करना पड़ता है। इसके लिये किसी भी एक या दो-चार मज़दूर के बस का नहीं कि वे संसाधन जुटा लें। इसके लिये उसे अपने तमाम मज़दूर साथियों को साधना होता है। इसके लिये सबसे पहला काम होता है उनसे चंदा एकत्र करना। चंदा एकत्र करने से संगठन की आर्थिक स्थिति तो मजबूत बनती ही है साथ में चंदा देने वाला मज़दूर अपने आप को यूनियन से जुडा हुआ महसूस करता है, वह अपने आप को संगठन का एक हिस्सा मानने लगता है। यह चंदा सदैव मज़दूर के वेतन के अनुरूप इतना रखा जाता है कि उसे देने में कष्ट न हो। मज़दूर चंदा तभी खुशी-खुशी देता है जब उसे अपने यूनियन नेतृत्व पर विश्वास होता है। इसके विपरीत कई बार नेतृत्व विश्वास पैदा करने की बजाय जोर-जबर से वसूली करके संगठन को बदनाम करते हैं।

लेकिन अब बड़ी-बड़ी यूनियनों ने चंदा एकत्र करने की प्रणाली बदल दी है। पहले चोरी-छिपे मज़दूरों से चंदा एकत्र होता था, फिर गेट पर खड़े होकर चंदे की पर्ची काटी जाने लगी क्योंकि फ़ैक्ट्री के भीतर पर्ची काटना, कम्पनी की नज़रों में अपराध माना जाता था। वहीं अब मज़दूरों के वेतन से चंदा कट कर सीधे यूनियन के खाते में जाने लगा है। प्रबन्धन के सहयोग से यूनियन केवल एक रजामंदी फ़ार्म पर मज़दूर के हस्ताक्षर करा कर मैनेजमेंट को देती है, फ़िर बाकी काम मैनेजमेंट खुद कर देती है। इस से

वक्त के साथ बदलते रहे सभी यूनियनों और उनके नेताओं के हालात

जहां चंदा एकत्र करने पर होने वाली मेहनत व खर्चा बचा वहीं वसूली भी पूरी कि पूरी एक साथ होकर यूनियन खाते में पहुंचने लगी। जाहिर है इससे यूनियन की वित्तीय स्थिति काफ़ी मज़बूत होने लगी। लेकिन चंदा वसूली के जरिये मज़दूर से होने वाला सीधा संवाद खत्म हो गया।

जाहिर है जब पैसा आयेगा, सम्पन्नता बढेगी तो काम करने के हालात भी बेहतर होंगे। यूनियन वालों को, पहले जहां कहीं बैठने को ठौर नहीं थी, अब शानदार दफ़्तर बनने लगे। कई जगह तो वातानुकूलित तक भी हो गये। पहले जो कागजी कार्रवाई मज़दूर नेता खूद मिल जुलकर किया करते थे अब इसके लिये क्लर्क बाबू तथा चपरासी तक की व्यवस्था होने लगी। वाहन के नाम पर पहले जहां एक साइकिल होती थी, जिससे प्रतिदिन शहर भर के 50-60 किलोमीटर नाप दिये जाते थे, अब दुपहिया और कहीं-कहीं तो कार तक उपलब्ध होने लगी। दूसरे शहर तक जाने के लिये पहले जहां सार्वजनिक परिवहन ही एक मात्र सहारा होते थे वहां अब टैक्सियां आ गयी। पहले जहां मज़दूर नेता खुद ही श्रम विभाग की कोर्ट कचहरी कर लिया करते थे, उनकी जगह अब पेशेवर वकीलों ने कब्जा ली है। नेता तो केवल 'नेतृत्व' करने भर को रह गये।

अब एक और बीमारी बढने लगी है मालिकान से 'सहयोग' लेने की। सहयोग के नाम पर कम्पनी के वाहन, हवाई यात्रा के टिकट, अगले शहर में ठहरने की व्यवस्था यानी होटल आदि या कम्पनी का अपना कोई गैस्ट हाउस। दफ़्तर के लिये कम्पनी का फ़र्नीचर व अन्य साजो-सामान, सोविनेयर आदि के लिये कम्पनी से विज्ञापन जैसी चीजें तो सबको दिखती ही हैं लेकिन इससे मज़दूरों के मन में भ्रम पेदा होता ही है कि उक्त मेहरबानियों के अलावा नेता न जाने क्या-क्या वसूली मालिकान से करते होंगे। यह भ्रम झूठा भी हो सकता है और सच्चा भी; लेकिन दोनों ही परिस्थितियां संगठन के लिये घातक ही हैं।

किसी भी एक कारखाने में संगठित होने वाले मज़दूरों की एक यूनियन होती हैं। जिसके पदाधिकारी-प्रधान, सचीव,कोषाध्यक्ष व कार्यकारिणी आदि होती हैं। ये सभी लोग प्राय: कारखाने में कार्यरत अथवा कम्पनी द्वारा निष्कासित मज़दूर होते हैं। कुछ मामलों में बाहरी व्यक्ति भी होते हैं। किसी भी कारखाने में बनी इस तरह की यूनियन स्वतंत्र भी रह सकती है और चाहे तो किसी बड़ी केन्द्रीय फेडरेशन से एफ़िलियेट भी हो सकती है। अधिकतर यूनियनें किसी न किसी राष्ट्रीय फेंडरेशन से एफ़िलियेट होती हैं, बल्कि गठित ही उनके द्वारा की जाती हैं। इसका लाभ यह रहता है कि किसी भी कारखाने की यूनियन एफ़िलिएट होने के बाद अपने आप को अकेला महसूस न करके एक बड़े परिवार का हिस्सा मान कर अधिक सुरक्षित महसूस करती है। किसी भी संकट की स्थिति में वे फेडरेशन की अन्य इकाइयों से मदद की अपेक्षा करती हैं। इसलिये बड़ी फेडरेशन के प्रभाव को देखते हुए उसके साथ अधिक इकाइयां एफिलिएट होती हैं। ये इकाइयां बाकायदा फेडरेशन को मासिक एफ़िलिएशन फ़ीस व चंदे आदि देती हैं।

पूरे देश भर की तरह फ़रीदाबाद में भी कम्यूनिस्ट पार्टी की एटक का एकछत्र राज था। लगभग हर कारखाने के गेट पर एटक का लाल झंडा लगा होता था। अनेकों यूनियनों में पदाधिकारी भी बाहरी एटक नेता ही होते थे। कुछ समय बाद कांग्रेसी सरकार के आशीर्वाद से कांग्रेसी फेडरेशन इन्टक को पनपाया जाने लगा। ये लोग जबरन मालिकान से मिल कर फैक्ट्री गेटों पर अपना तिरंगा झंडा गाड़ने लगे। इन्हें एक और बड़ी सुविधा यह भी रही कि अच्छी-भली चल रही यूनियन के बावजूद कोई सात मज़दूर पकड़ कर झटपट अपनी समानांतर यूनियन रजिस्टर करा कर खड़ी कर देते थे। इन्टक की एक खूबी यह भी रही है कि इनका ज़िला स्तर पर कोई संगठन नहीं था। इनके दसियों नेता अपने-अपने दफ़्तर के प्रधान रहे हैं। बाजार में खुली दुकानों की तर्ज पर इनके दफ़्तर खुले थे। हर नेता खुद कमाता था, खुद खाता था, कुछेक तो अब तक भी बचे हैं। ये लोग संघर्ष की बजाय ले-देकर समझौता करके पतली गली से निकलने में यकीन करते थे। इसलिये इनके साथ कभी भी कोई बड़ी यूनियन एफ़िलिएट नहीं हुई।

1964 के बाद एटक में विभाजन हुआ और सीटू का जन्म हुआ। कहावत है कि नया-नया मुल्ला प्याज भी ज्यादा खाता है और बांग भी ज्यादा ऊंची देता है; इसी को चरितार्थ करते हुए सीटू ने भी अन्य इलाकों की तरह फ़रीदाबाद में भी ज़ोर-शोर से झंडे गाड़ने शुरू कर दिये। इमरजेंसी दौर में कुछ मंदे पड़े तो इसके समाप्त होते ही 1977 में अपने पूरे शबाब में आ गये। हर रोज शहर भर में सीटू का धूम-धड़ाका, कभी इस फैक्ट्री में तो कभी उस फैक्ट्री में। इसी दौर में हिंद मज़दूर सभा का भी फ़रीदाबाद में आगमन हो गया। इस आगमन के मुख्य वाहक तो एस्कॉर्ट कम्पनी के मज़दूर नेता बीरम सिंह व सुभाष सेठी थे। परन्तु इनको नेतृत्व देने व इनका मार्ग प्रशस्त करने का काम तत्कालीन समाजवादी नेता जार्ज फ़र्नांडीस व सुषमा स्वराज ने किया। दोनों समय के साथ रंग बदल कर लाल से भगवा हो गये थे।

सुधी पाठकों, खासकर ट्रेड यूनियन साथियों से निवेदन है कि इधर-उधर आपस में बात करने की बजाय सीधे मुझे लिखकर भेजें। उसे हम प्रकाशित करेंगे।

(संपादक, मजदूर मोर्चा)